ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-4.5
Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No.- 480-495
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. अभिषेक पाण्डेय

भाषा, साहित्य/ मानविकी विद्यापीठ,
नालन्दा विश्वविद्यालय, राजगीर, बिहार.

Corresponding Author :

डॉ. अभिषेक पाण्डेय

भाषा, साहित्य/ मानविकी विद्यापीठ,
नालन्दा विश्वविद्यालय, राजगीर, बिहार.

कालगणना और अधिकमास : भारतीय शास्त्र परम्परा के आलोक में धर्मशास्त्रीय अध्ययन

सारांश (Abstract) : यह शोध पत्र भारतीय कालगणना की परम्परा में अधिकमास (पुरुषोत्तम मास) के सिद्धान्त का शास्त्रीय, गणितीय एवं धर्मशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करता है। वैदिक साहित्य, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ज्योतिषीय ग्रन्थों के आलोक में काल शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं दार्शनिक अर्थ का विश्लेषण किया गया है। चन्द्रवर्ष एवं सौरवर्ष के अन्तर से उत्पन्न अधिकमास की गणना, सूर्यसिद्धान्त, आर्यभटीय एवं ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त के आधार पर की गई है। पद्मपुराण, नारदीय पुराण एवं धर्मसिन्धु में वर्णित धार्मिक महत्त्व तथा पुरुषोत्तम मास की कथा का विवेचन भी सम्मिलित है। अधिकमास ऋतुचक्र की रक्षा का वैज्ञानिक साधन था।

वैदिक समाज कृषि-प्रधान था। वर्षा, बीजरोपण, फसल तथा यज्ञ—सभी प्रकृति के साथ सामंजस्य पर आधारित थे। इसीलिए अधिमास केवल गणना का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक और धार्मिक जीवन की आवश्यकता था। इस प्रकार यह अध्ययन भारतीय कालचक्र की वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वय प्रस्तुत करता है।

कीवर्ड्स (Keywords) : कालगणना, अधिकमास, पुरुषोत्तम मास, पंचाङ्ग, सूर्यसिद्धान्त, धर्मशास्त्र, पुराण।

प्रस्तावना : भारतीय कालगणना-पद्धति की सबसे विलक्षण विशेषताओं में से एक "अधिमास" की व्यवस्था है। यह केवल गणितीय समायोजन नहीं, अपितु वैदिक ऋषियों की सूक्ष्म खगोलीय दृष्टि, ऋतु-विज्ञान तथा यज्ञीय आवश्यकता का अद्भुत समन्वय है। वैदिक समाज में समस्त धार्मिक जीवन प्रकृति के चक्र के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध था। यज्ञ, उत्सव, कृषि, वर्षा, व्रत तथा ऋतु-आधारित संस्कार—सभी सूर्य और चन्द्रमा की गतियों के अनुरूप सम्पन्न होते थे। अतः यदि कालगणना में थोड़ी भी विसंगति उत्पन्न होती, तो सम्पूर्ण यज्ञीय एवं सामाजिक व्यवस्था प्रभावित

हो जाती।

भारतीय ऋषियों ने यह अनुभव किया कि सौर वर्ष और चान्द्र वर्ष समान नहीं हैं। सूर्य की गति पर आधारित सौर वर्ष लगभग ३६५ दिनों का होता है, जबकि १२ चान्द्र मासों का वर्ष लगभग ३५४ दिनों का होता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष लगभग १० या ११ दिनों का अन्तर उत्पन्न होता है। यदि इस अन्तर को यथावत् रहने दिया जाए, तो चान्द्र मास धीरे-धीरे ऋतुओं से पृथक् हो जाएँगे। फलतः वसन्तकालीन यज्ञ शीत ऋतु में तथा वर्षायज्ञ ग्रीष्मकाल में पड़ने लगेंगे। वैदिक संस्कृति के लिए यह स्थिति अस्वीकार्य थी, क्योंकि वेदों में प्रत्येक यज्ञ का विधान विशिष्ट ऋतु में ही किया गया है।

इसी समस्या के समाधान हेतु वैदिक ऋषियों ने "त्रयोदश मास" अथवा "अधिमास" की वैज्ञानिक व्यवस्था का निर्माण किया। यह व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम चान्द्र-सौर समन्वय प्रणाली मानी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस अतिरिक्त मास को केवल गणना की आवश्यकता नहीं माना गया, बल्कि उसे संवत्सर की पूर्णता तथा "ऋत" अर्थात् ब्रह्माण्डीय व्यवस्था की रक्षा का साधन माना गया है। इसीलिए अधिमास को कहीं "संसर्प", कहीं "अंहस्पति" और कहीं "त्रयोदश मास" कहा गया है।

ऋतु-संरक्षण और याज्ञिक आवश्यकता : अधिमास व्यवस्था का मूल उद्देश्य "ऋतु-संरक्षण" था। वैदिक संस्कृति पूर्णतः ऋतु-आधारित थी। प्रत्येक यज्ञ विशिष्ट ऋतु में ही सम्पन्न किया जाता था—

"ऋतुवेलायां हि यष्टव्यम्।" — कात्यायन श्रौतसूत्र ६/४

यदि अधिकमास न जोड़ा जाए, तो चान्द्र मास प्रतिवर्ष लगभग ११ दिन पीछे हटते जाएँगे। परिणामस्वरूप—

- चैत्र का वसन्त से सम्बन्ध टूट जाएगा।
- वर्षायज्ञ ग्रीष्म में पड़ने लगेंगे।
- कृषि और पर्व-व्यवस्था असंतुलित हो जाएगी।

उदाहरणतः लगभग ३० वर्षों में चान्द्र मास पूर्णतः विपरीत ऋतु में पहुँच सकते हैं। अतः अधिमास ऋतुचक्र की रक्षा का वैज्ञानिक साधन था।

वैदिक समाज कृषि-प्रधान था। वर्षा, बीजरोपण, फसल तथा यज्ञ—सभी प्रकृति के साथ सामंजस्य पर आधारित थे। इसीलिए अधिमास केवल गणना का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक और धार्मिक जीवन की आवश्यकता था।

भारतीय ज्योतिष में अधिकमास का गणितीय स्वरूप : भारतीय कालगणना-पद्धति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक पक्ष "चान्द्र-सौर समन्वय" है। भारतीय ज्योतिषशास्त्र ने अत्यन्त प्राचीन काल से सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर यह अनुभव कर लिया था कि दोनों की गति समान नहीं है। सूर्य के आधार पर निर्धारित सौर वर्ष तथा चन्द्रमा की कलाओं पर आधारित चन्द्रवर्ष के मध्य प्रतिवर्ष एक निश्चित अन्तर उत्पन्न होता है। यदि इस अन्तर का समय-समय पर परिमार्जन न किया जाए, तो ऋतुचक्र और मास-व्यवस्था में असंतुलन उत्पन्न हो जाएगा। इसी विसंगति के समाधान हेतु भारतीय ज्योतिषियों ने "अधिकमास" की व्यवस्था का विधान किया।

भारतीय पञ्चाङ्ग मूलतः चान्द्र-सौर पद्धति पर आधारित है। इसमें मासों का निर्धारण चन्द्रमा की गति से तथा ऋतु एवं संवत्सर का निर्धारण सूर्य की गति से किया जाता है। इस प्रकार भारतीय कालगणना में खगोल, गणित और धार्मिक व्यवहार का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। सूर्यसिद्धान्त, आर्यभटीय, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त तथा सिद्धान्तशिरोमणि जैसे ग्रन्थों में अधिकमास की गणना का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है।

चन्द्रवर्ष एवं सौरवर्ष का अन्तर

भारतीय कालगणना का आधार सूर्य और चन्द्रमा की सापेक्ष गतियाँ हैं। सौर वर्ष वह अवधि है जिसमें पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक पूर्ण परिक्रमा सम्पन्न करती है। आधुनिक खगोलशास्त्र के अनुसार सापात् सौर वर्ष की अवधि लगभग ३६५.२४२२ दिन मानी जाती है।

इसके विपरीत चन्द्रवर्ष बारह चान्द्र मासों का समूह है। एक चान्द्र मास, अर्थात् एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक की अवधि, लगभग २९.५३०६ दिन मानी जाती है। इस प्रकार १२ चान्द्र मासों का एक चन्द्रवर्ष लगभग ३५४.३६७२ दिन का होता है।

इस आधार पर सौर वर्ष और चन्द्रवर्ष के मध्य लगभग १०.८७५ दिनों का वार्षिक अन्तर प्राप्त होता है। यही अन्तर अधिकमास की आवश्यकता का मूल कारण है। यदि इस अन्तर का परिमार्जन न किया जाए, तो प्रत्येक तीन वर्षों में लगभग एक मास का विचलन उत्पन्न हो जाएगा और ऋतु-चक्र तथा मास-व्यवस्था में असंतुलन हो जाएगा।
भारतीय ज्योतिषियों ने इस अन्तर को अत्यन्त सूक्ष्मता से पहचाना और उसके समाधान हेतु वैज्ञानिक काल-समायोजन की व्यवस्था की।

अधिकमास की उत्पत्ति का गणितीय आधार : चान्द्र और सौर वर्ष के मध्य जो लगभग ११ दिनों का अन्तर प्रतिवर्ष उत्पन्न होता है, वही क्रमशः संचित होकर एक अतिरिक्त मास की आवश्यकता उत्पन्न करता है। गणना करने पर ज्ञात होता है कि लगभग ढाई से तीन वर्षों के भीतर यह अन्तर लगभग ३० दिनों के बराबर हो जाता है, जो एक पूर्ण चान्द्र मास की अवधि के निकट है। इसी कारण एक अतिरिक्त मास जोड़ा जाता है, जिसे "अधिकमास" कहा जाता है।

परम्परागत भारतीय ज्योतिषीय गणना के अनुसार लगभग ३२ मास, १६ दिन और ४ घटी के पश्चात् एक अधिकमास का आगमन होता है। यह केवल अनुमानात्मक व्यवस्था नहीं, बल्कि सूर्य और चन्द्रमा की वास्तविक गतियों पर आधारित गणितीय निष्कर्ष है।
वशिष्ठ सिद्धान्त में कहा गया है—

"मासक्षयोऽर्धमासाश्च नित्यमेव त्रिवत्सरैः।
पतितेऽनन्तरे मासे ह्यधिमासो विधीयते॥"

— पञ्चसिद्धान्तिका (वशिष्ठ सिद्धान्त भाग) अध्याय: २

अर्थात् लगभग तीन वर्षों के अन्तराल पर अतिरिक्त मास की व्यवस्था की जाती है।

यह व्यवस्था इस उद्देश्य से की गई कि ऋतु और मास का पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर बना रहे तथा धार्मिक अनुष्ठानों का समय प्रकृति के अनुकूल बना रहे।

क्षयमास की अवधारणा : अधिकमास के विपरीत "क्षयमास" अत्यन्त दुर्लभ खगोलीय स्थिति है। सामान्यतः एक चान्द्र मास में सूर्य एक ही संक्रान्ति करता है, अर्थात् एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करता है। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि एक ही चान्द्र मास के भीतर सूर्य दो संक्रान्तियाँ कर लेता है। उस स्थिति में एक मास का लोप हो जाता है, जिसे "क्षयमास" कहा जाता है।

सिद्धान्तशिरोमणि में कहा गया है—

"असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटः स्याद् द्विसंक्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित्।"

— सिद्धान्तशिरोमणि, मध्यमाधिकार, श्लोक ६

अर्थात् जिस मास में संक्रान्ति न हो वह अधिमास कहलाता है और जिसमें दो संक्रान्तियाँ हों वह क्षयमास कहलाता है। यह स्थिति प्रायः तब उत्पन्न होती है जब सूर्य की स्पष्ट गति अपेक्षाकृत तीव्र हो तथा चन्द्रमा की गति मन्द हो। क्षयमास अत्यन्त दुर्लभ होता है और प्रायः कार्तिक, मार्गशीर्ष अथवा पौष मासों में ही सम्भव माना गया है। भारतीय ज्योतिष की यह सूक्ष्म गणना उसकी प्रेक्षणात्मक वैज्ञानिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

सूर्यसिद्धान्त में अधिकमास-निर्णय : भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष में "सूर्यसिद्धान्त" को अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें अधिकमास के निर्णय का मूल सिद्धान्त "संक्रान्ति" पर आधारित है।

भारतीय ज्योतिष के अनुसार सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश "संक्रान्ति" कहलाता है। यदि किसी चान्द्र मास के आरम्भ और अन्त के मध्य सूर्य की कोई संक्रान्ति न हो, तो वह मास "अधिमास" कहलाता है।

ज्योतिषीय ग्रन्थों में कहा गया है—

"यस्मिन्मासे न संक्रान्तिः संक्रान्तिद्वयमेव वा।
मलमासः स विज्ञेयो मासास्त्रिंशत्तमः स्मृतः॥"

— ज्योतिषतत्त्व, पृष्ठ ५४२

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि संक्रान्ति-विहीन मास ही अधिमास है। इससे ज्ञात होता है कि भारतीय पञ्चाङ्ग-निर्माण प्रत्यक्ष खगोलीय निरीक्षण पर आधारित था।

आर्यभटीय एवं ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त में अधिकमास : भारतीय गणित-ज्योतिष के महान आचार्यों ने अधिकमास की व्यवस्था को केवल व्यवहारिक नियम न मानकर विशाल कालचक्रों की गणना के भीतर सिद्ध किया है।

(क) आर्यभटीय : महान गणितज्ञ आर्यभट्ट ने महायुग के अन्तर्गत सौर एवं चान्द्र मासों के अन्तर के आधार पर अधिकमास की संख्या का निर्धारण किया। उन्होंने कहा—

"चन्द्रमासाश्च सौरमासानामन्तरमधिमासाः।"

— आर्यभटीय, कालक्रियापाद, श्लोक ६

अर्थात् चन्द्रमासों और सौरमासों के अन्तर को ही अधिमास कहा जाता है।

आर्यभट्ट के अनुसार एक महायुग में १५,९३,३३६ अधिकमास होते हैं। यह गणना भारतीय ज्योतिष की गणितीय सूक्ष्मता का परिचायक है।

(ख) ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त : आचार्य ब्रह्मगुप्त ने ग्रहों की मन्द एवं शीघ्र गति के आधार पर अधिकमास और क्षयमास की व्याख्या की। उन्होंने स्पष्ट किया कि ग्रहगतियों की असमानता ही कालगणना में इन विशेष स्थितियों का कारण है।

"मन्दोच्चशीघ्रोच्चवशाद्भेदः।"

— ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, अध्याय १

इस प्रकार ब्रह्मगुप्त ने अधिकमास की व्यवस्था को वास्तविक खगोलीय गतियों से सम्बद्ध किया।

सिद्धान्त-ज्योतिष और आधुनिक खगोलविज्ञान : भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष और आधुनिक खगोलविज्ञान की तुलना करने पर आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। भारतीय ज्योतिषाचार्यों द्वारा निर्धारित सौर वर्ष तथा चान्द्र मास के मान आधुनिक वैज्ञानिक गणनाओं के अत्यन्त निकट हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सापात् सौर वर्ष लगभग ३६५.२४२२ दिन का होता है, जबकि भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष में इसका मान लगभग ३६५.२५८७ दिन प्राप्त होता है। इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान में चान्द्र मास का मान लगभग २९.५३०५९ दिन माना जाता है, जबकि भारतीय गणना में यह लगभग २९.५३०५८ दिन प्राप्त होता है।

इन दोनों गणनाओं के मध्य अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है। यह तथ्य सिद्ध करता है कि भारतीय ऋषियों और ज्योतिषाचार्यों को खगोलीय गतियों का अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म ज्ञान था।

यद्यपि आधुनिक विज्ञान "अयनचलन" के कारण कुछ सूक्ष्म अन्तरों को स्पष्ट करता है, तथापि भारतीय चान्द्र-सौर पञ्चाङ्ग की मूल संरचना आज भी वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त प्रभावी और व्यावहारिक मानी जाती है।

पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में अधिकमास : भारतीय धर्मपरम्परा में "अधिकमास" केवल खगोलीय या गणितीय समायोजन का साधन नहीं है, अपितु वह एक गहन आध्यात्मिक, धार्मिक तथा साधनात्मक अवधारणा है। वेदाङ्ग-ज्योतिष और सिद्धान्त-ग्रन्थों में जहाँ अधिकमास का स्वरूप गणितीय एवं खगोलवैज्ञानिक आधार पर निर्धारित किया गया, वहीं पुराणों एवं धर्मशास्त्रों ने उसे धार्मिक जीवन से सम्बद्ध कर विशेष आध्यात्मिक प्रतिष्ठा प्रदान की। इस प्रकार भारतीय मनीषा ने समय की गणना को केवल भौतिक आवश्यकता तक सीमित न रखकर उसे साधना, प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि का माध्यम बना दिया।

पुराणों में अधिकमास को "पुरुषोत्तम मास" कहा गया है। यह नाम केवल प्रतीकात्मक नहीं, बल्कि उसके आध्यात्मिक महत्त्व का द्योतक है। जहाँ अन्य मास विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध माने गए हैं, वहीं यह मास स्वयं भगवान् विष्णु अथवा पुरुषोत्तम भगवान् का स्वरूप माना गया है। धर्मशास्त्रों ने भी इस मास के लिए पृथक् आचार-संहिता निर्धारित की है, जिसमें कुछ कर्मों का निषेध तथा कुछ का विशेष विधान किया गया है।

४.१ पुराणों में पुरुषोत्तम मास-माहात्म्य : पुराण साहित्य में अधिकमास का माहात्म्य अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ वर्णित हुआ है। पुराणकारों ने इसे केवल "अतिरिक्त मास" न मानकर भगवान् की विशेष कृपा का काल माना है। इस मास में जप, तप, व्रत, दान और भगवद्भक्ति को अन्य मासों की अपेक्षा अनेक गुना फलदायक कहा गया है। यहाँ लेख की सीमा को देखते हुए कुछ पुराणों के प्रमुख अंश पर शोधकार्य प्रस्तुत है।

अधिकमास के माहात्म्य का सर्वाधिक विस्तृत वर्णन पद्मपुराण में प्राप्त होता है। वहाँ एक प्रसिद्ध उपाख्यान मिलता है कि "मलमास" अपनी उपेक्षा और निन्दा से दुःखी होकर भगवान् विष्णु के पास गया। उसने निवेदन किया कि अन्य सभी मासों को देवताओं की अधिष्ठात्री सत्ता प्राप्त है, किन्तु उसे कोई सम्मान प्राप्त नहीं है। तब भगवान् विष्णु ने उसे अपना नाम "पुरुषोत्तम" प्रदान किया और कहा—

"अहमेतेन नाम्ना वै लोके ख्यातोऽस्मि भारत।
मन्नाम्ना च मदीयेन मासोऽयं वै भविष्यति॥"

— पद्मपुराण, पातालखण्ड, पुरुषोत्तम-मास-माहात्म्य १/४८

अर्थात् "हे भारत! मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ, अतः यह मास भी मेरे नाम से 'पुरुषोत्तम मास' कहलाएगा।"

आगे भगवान् यह भी कहते हैं कि अन्य मासों में जो फल दीर्घकालीन तपस्या से प्राप्त होता है, वही इस मास में श्रद्धापूर्वक भक्ति करने से सहज प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पद्मपुराण ने अधिकमास को आत्मशुद्धि और भगवद्भक्ति का विशेष काल घोषित किया।

नारदपुराण में अधिकमास को अत्यन्त पुण्यकारी और मोक्षदायक बताया गया है—

"मासानां प्रवरो ह्येष पुरुषोत्तमसंज्ञकः।
अस्मिन्मासे कृते पुण्यं कोटिकोटिगुणं भवेत्॥"

— नारदपुराण, पूर्वभाग, ५६/२१

अर्थात् यह पुरुषोत्तम नामक मास सभी मासों में श्रेष्ठ है। इस मास में किया गया पुण्य करोड़ों गुना फल प्रदान करता है।

यहाँ स्पष्ट रूप से “पुण्य की गुणात्मक वृद्धि” की अवधारणा प्रतिपादित की गई है। इसका आशय यह है कि अधिकमास साधना की तीव्रता और अन्तःकरण की शुद्धि का विशेष अवसर है।

स्कन्दपुराण में पुरुषोत्तम मास की तुलना देवताओं में विष्णु तथा तीर्थों में गंगा से की गई है। वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओं में श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार पुरुषोत्तम मास समस्त मासों में श्रेष्ठ है।

“यथा विष्णुः सुरश्रेष्ठो यथा गङ्गा सरिद्वरा।
तथा पुरुषोत्तमो मासः सर्वमासेषु विशिष्यते॥”

— स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, पुरुषोत्तम-मास-माहात्म्य

इस प्रकार पुराणों ने अधिकमास को साधारण कालखंड न मानकर ईश्वरीय कृपा और भक्ति-साधना का विशेष अवसर माना है।

भविष्यपुराण में अधिकमास को “सर्वपापप्रणाशक” कहा गया है। यहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि इस मास में किया गया अल्प साधन भी महान् फल प्रदान करता है—

“अधिमासे तु यत्पुण्यं जपहोमसुरार्चनैः।
तत्सर्वं कोटिगुणितं पुरुषोत्तमसंज्ञके॥”

— भविष्यपुराण, उत्तरपर्व, अध्याय ४२

अर्थात् पुरुषोत्तम मास में जप, होम तथा देवपूजन से प्राप्त पुण्य करोड़ों गुना बढ़ जाता है।

भविष्यपुराण में यह भी कहा गया है कि इस मास में किया गया उपवास, दान और तीर्थस्नान मनुष्य को पापबंधन से मुक्त करता है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में अधिकमास को भगवान् कृष्ण का प्रियतम मास कहा गया है। वहाँ भक्ति को ही इस मास का मुख्य साधन बताया गया है—

“न मासः पुरुषोत्तमात्परतरः पृथिवीतले।
न विष्णोरधिकं दैवं न गङ्गासदृशी नदी॥”

— ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ७५

अर्थात् पृथ्वी पर पुरुषोत्तम मास से बढ़कर कोई मास नहीं, विष्णु से बढ़कर कोई देवता नहीं और गंगा के समान कोई नदी नहीं।

यहाँ पुरुषोत्तम मास को वैष्णव साधना का सर्वोत्तम अवसर माना गया है।

गरुड़पुराण में अधिकमास को प्रायश्चित्त और पितृतर्पण के लिए विशेष फलदायक कहा गया है। वहाँ वर्णित है कि इस मास में किया गया दान तथा श्राद्ध पितरों को विशेष तृप्ति प्रदान करता है—

“अधिमासे कृते श्राद्धे पितरः परमां गतिम्।
लभन्ते नात्र सन्देहो विष्णुलोकं सनातनम्॥”

— गरुड़पुराण, प्रेतखण्ड, अध्याय ९०

अर्थात् अधिकमास में किए गए श्राद्ध से पितर विष्णुलोक को प्राप्त होते हैं।

यहाँ अधिकमास का सम्बन्ध केवल वैष्णव भक्ति से नहीं, बल्कि पितृधर्म से भी जोड़ा गया है।

अग्निपुराण में अधिकमास को तप, दान और संयम का काल कहा गया है—

"उपवासैर्जपैर्होमैर्दानेन नियमेन च।
पुरुषोत्तममासे तु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥"
— अग्निपुराण, अध्याय १७५
अर्थात् उपवास, जप, होम, दान तथा नियमपालन द्वारा मनुष्य पुरुषोत्तम मास में समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। अग्निपुराण का यह कथन स्पष्ट करता है कि अधिकमास का मुख्य उद्देश्य अन्तःकरण-शुद्धि है।

यद्यपि श्रीमद्भागवत महापुराण में "पुरुषोत्तम मास" नाम से पृथक् माहात्म्य नहीं मिलता, तथापि वैष्णव परम्परा में इस मास में भागवत-पारायण का अत्यन्त महत्त्व माना गया है। भागवत में भक्ति को कलियुग का सर्वोत्तम साधन कहा गया है—
"कालेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥"
— श्रीमद्भागवत महापुराण, १२/३/५१
अर्थात् कलियुग दोषों का भण्डार है, किन्तु एक महान् गुण यह है कि केवल भगवान् कृष्ण के कीर्तन से मनुष्य परम पद को प्राप्त कर सकता है।

इसी कारण पुरुषोत्तम मास में भागवत-श्रवण, हरिनाम-संकीर्तन तथा विष्णुभक्ति को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ।

धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु एवं अन्य निबन्ध-ग्रन्थों में विधान : धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों ने अधिकमास के व्यावहारिक, विधिक तथा सामाजिक पक्ष का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है। इन ग्रन्थों का उद्देश्य केवल धार्मिक महिमा का वर्णन नहीं, बल्कि व्यवहार में अधिकमास के निर्णय तथा उसके आचार-विधान को स्पष्ट करना है।
कमलाकर भट्टकृत निर्णयसिन्धु में अधिकमास के निर्णय हेतु "संक्रान्ति" को आधार माना गया है। वहाँ कहा गया है—
"संक्रान्तिवर्जितो मासः स एवाधिमासकः।"
— निर्णयसिन्धु, प्रथम परिच्छेद, मलमासप्रकरण, पृष्ठ ५४
अर्थात् जिस चान्द्रमास में सूर्य की संक्रान्ति नहीं होती, वही अधिमास कहलाता है।

यह सिद्धान्त सिद्धान्त-ज्योतिष की परम्परा के अनुरूप है। निर्णयसिन्धुकार ने अधिकमास के दौरान श्राद्ध, व्रत, दान तथा नित्यकर्मों के विधान का भी विस्तृत विवेचन किया है।

काशीनाथ उपाध्यायकृत धर्मसिन्धु में "द्विराषाढ", "द्विश्रावण" आदि स्थितियों का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि जब दो समान नाम वाले मास आते हैं, तब प्रथम मास "मलमास" तथा द्वितीय "शुद्ध मास" कहलाता है।
धर्मसिन्धु में यह भी निर्दिष्ट है कि—
- नित्य कर्मों का परित्याग नहीं किया जा सकता,
- श्राद्धादि नैमित्तिक कर्म सम्पन्न किए जा सकते हैं,
- किन्तु विवाह आदि सकाम संस्कार वर्जित हैं।

यह विवेचन भारतीय धर्मशास्त्र की व्यवहारिक दृष्टि को प्रकट करता है।
व्रत, दान, जप, उपवास एवं अनुष्ठान : अधिकमास का मूल स्वरूप "नैष्काम्य भक्ति" पर आधारित है। इस मास में बाह्य वैभव और सांसारिक उत्सवों की अपेक्षा जप, तप, दान और स्वाध्याय को अधिक महत्त्व दिया गया है।

धर्मशास्त्रों में अधिकमास में दान को अत्यन्त फलदायक कहा गया है। विशेषतः "तैंतीस" संख्या का महत्त्व वर्णित है, जो ३३ देवताओं का प्रतीक मानी जाती है।

निर्णयसिन्धु में पद्मपुराण के आधार पर कहा गया है—

"त्रयस्त्रिंशदपूपानि घृतपक्वानि भक्तितः।
ब्राह्मणाय प्रदेयानि वंशपात्रे निधाय च॥"

— निर्णयसिन्धु, प्रथम परिच्छेद

अर्थात् घृत में पके हुए ३३ अपूप (मालपुए) श्रद्धापूर्वक ब्राह्मण को दान करने चाहिए।

यहाँ ३३ की संख्या का सम्बन्ध १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु तथा २ अश्विनीकुमारों से जोड़ा जाता है।

पुरुषोत्तम मास में भगवन्नाम-स्मरण, गीता-पाठ तथा श्रीमद्भागवत के पारायण का विशेष महत्त्व बताया गया है। विशेषतः— **"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"** मन्त्र का जप अत्यन्त फलदायी माना गया है।

पद्मपुराण के अनुसार इस मास में किया गया जप सामान्य समय की अपेक्षा अनेक गुना फल प्रदान करता है।

अधिकमास में अखण्ड दीपदान का विशेष महत्त्व माना गया है। दीपक को अज्ञान और पापरूपी अन्धकार के नाश का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार एकादशी-व्रत, उपवास तथा ब्रह्मचर्य-पालन को भी अत्यन्त पुण्यकारी कहा गया है।

अधिकमास में निषिद्ध एवं अनिवार्य कर्म : धर्मशास्त्रों ने अधिकमास के लिए विशिष्ट आचार-संहिता निर्धारित की है। इसका मूल उद्देश्य मनुष्य को सांसारिक कर्मों से हटाकर आध्यात्मिक अनुशीलन की ओर प्रवृत्त करना है।

(क) निषिद्ध कर्म : जो कर्म मुख्यतः सांसारिक कामना और उत्सव से सम्बद्ध हैं, वे इस मास में वर्जित माने गए हैं—

- विवाह
- यज्ञोपवीत
- मुण्डन
- कर्णवेध
- गृहप्रवेश
- देवप्रतिष्ठा
- नवीन वस्त्राभरण धारण
- सकाम व्रतारम्भ आदि

नारदपुराण में कहा गया है—

"यज्ञोपवीतं विवाहं च मुण्डनं कर्णवेधनम्।
सकामं च व्रतं तीर्थं मलमासे विवर्जयेत्॥"

— नारदपुराण, पूर्वभाग, ५६/ १३–१४

अर्थात् मलमास में यज्ञोपवीत, विवाह, मुण्डन, कर्णवेध तथा सकाम कर्मों का त्याग करना चाहिए।

धर्मशास्त्रीय दृष्टि से इन कर्मों के निषेध का मूल कारण यह है कि ये सभी "काम्य" अथवा "माङ्गलिक" संस्कार माने जाते हैं। इनका उद्देश्य लौकिक जीवन की वृद्धि, वंशविस्तार, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा गृहस्थ-धर्म की स्थापना से सम्बन्धित है। इसके विपरीत अधिकमास का स्वरूप मुख्यतः वैराग्य, प्रायश्चित्त, तप, जप तथा आत्मशुद्धि पर आधारित माना गया है। अतः इस काल में बाह्य उत्सवों और सांसारिक आयोजन की अपेक्षा अन्तर्मुख साधना को अधिक महत्त्व दिया गया।

विवाह जैसे संस्कार सामाजिक उत्सव और लौकिक विस्तार के प्रतीक हैं, जबकि पुरुषोत्तम मास मनुष्य को इन्द्रियनिग्रह, संयम तथा भगवद्भक्ति की ओर प्रवृत्त करता है। इसीलिए धर्मशास्त्रों ने इस मास को "नैष्काम्य साधना" का काल माना है।

निर्णयसिन्धु में भी संकेत किया गया है कि—

"काम्यानि कर्माणि मलमासे नाचरेत्।"

— निर्णयसिन्धु, मलमासप्रकरण, पृष्ठ ५७

अर्थात् अधिकमास में काम्य कर्म नहीं करने चाहिए।

यहाँ "काम्य कर्म" से अभिप्राय उन कर्मों से है जो किसी लौकिक फल, सुख या अभिलाषा की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। इसके विपरीत नित्य एवं नैमित्तिक कर्म—जैसे सन्ध्योपासन, श्राद्ध, अग्निहोत्र तथा देवपूजन—त्याज्य नहीं माने गए, क्योंकि वे धर्म के अनिवार्य अंग हैं।

दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए तो यह निषेध "अशुभता" के कारण नहीं, बल्कि साधना-प्रधानता के कारण है। भारतीय संस्कृति समय के किसी भाग को स्वभावतः अशुभ नहीं मानती; अपितु प्रत्येक काल की एक विशिष्ट आध्यात्मिक उपयोगिता स्वीकार करती है। अधिकमास की उपयोगिता लौकिक उत्सवों में नहीं, बल्कि अन्तःकरण-परिष्कार में मानी गई है। इसी कारण इस मास में भक्ति, दान, जप, उपवास तथा स्वाध्याय को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया।

(ख) अनिवार्य एवं अनुमत कर्म : नित्य एवं नैमित्तिक कर्म कभी त्याज्य नहीं माने गए। अतः—

- सन्ध्योपासन
- अग्निहोत्र
- पञ्चमहायज्ञ
- श्राद्ध
- जातकर्म
- अन्त्येष्टि

आदि कर्म इस मास में भी सम्पन्न किए जाते हैं। धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट कहा है कि धर्म का नित्य प्रवाह किसी भी काल में अवरुद्ध नहीं होना चाहिए।

पुरुषोत्तम मास की धार्मिक प्रतिष्ठा : अधिकमास की धार्मिक प्रतिष्ठा का मूल आधार यह विचार है कि समय का कोई भी अंश वास्तव में अशुभ नहीं होता। भारतीय संस्कृति ने जिस "मलमास" को प्रारम्भ में उपेक्षित माना गया, उसी को "पुरुषोत्तम मास" के रूप में प्रतिष्ठित कर यह सिद्ध किया कि ईश्वर की कृपा से तुच्छ प्रतीत होने वाला भी परम पवित्र बन सकता है।

यह मास मनुष्य को सांसारिक उत्सवों और बाह्य आडम्बर से हटाकर आत्मचिन्तन, प्रायश्चित्त तथा अन्तःकरण-शुद्धि की ओर प्रेरित करता है। जहाँ अन्य मास लौकिक कर्मों से अधिक सम्बद्ध हैं, वहीं यह मास मुख्यतः आध्यात्मिक अनुशीलन का काल है। पुराणों में यह भी कहा गया है कि यह मास पूर्ववर्ती काल की आध्यात्मिक त्रुटियों के शोधन का अवसर प्रदान करता है। इसीलिए इसे "प्रायश्चित्तकाल" भी कहा गया है।

काल का आध्यात्मिक विवेचन : भारतीय दर्शन एवं अध्यात्म में "काल" की अवधारणा केवल गणनात्मक या खगोलीय नहीं है, अपितु वह गहन आध्यात्मिक अर्थों से युक्त है। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण तथा आगम-साहित्य में काल को

ब्रह्माण्डीय शक्ति, ईश्वर की अभिव्यक्ति तथा जीव के कर्मफल-नियमन का आधार माना गया है। भारतीय मनीषा के अनुसार काल केवल घटनाओं का क्रम नहीं, बल्कि सृष्टि, स्थिति और संहार की दिव्य प्रक्रिया का साधन है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में काल का सम्बन्ध केवल ज्योतिष से नहीं, बल्कि धर्म, साधना, योग, कर्म तथा मोक्ष से भी स्थापित किया गया है।

काल की आध्यात्मिकता का मूल आधार यह विचार है कि संसार में जो कुछ परिवर्तनशील है, वह काल के अधीन है; किन्तु जो कालातीत है, वही परम सत्य अथवा ब्रह्म है। इस प्रकार काल एक ओर संसार के प्रवाह का नियामक है, तो दूसरी ओर मनुष्य को उस परम तत्त्व की ओर प्रेरित करता है जो काल से परे है।

गीता में भगवान् का कालस्वरूप : श्रीमद्भगवद्गीता में "काल" का स्वरूप अत्यन्त विराट और दार्शनिक रूप में प्रतिपादित हुआ है। विशेषतः विश्वरूपदर्शन योग में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं को "काल" के रूप में उद्घोषित करते हैं—

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।"

— श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ११, श्लोक ३२

अर्थात् "मैं लोकों का संहार करने वाला महान् काल हूँ, जो इस समय संसार का विनाश करने के लिए प्रवृत्त हुआ है।" यहाँ "काल" केवल समय नहीं, बल्कि ईश्वर की वह शक्ति है जो सृष्टि के परिवर्तन, विनाश और पुनर्सृजन का संचालन करती है। भगवान् अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं कि युद्ध का परिणाम केवल मानवीय प्रयासों से निर्धारित नहीं होता; उसके पीछे एक विराट कालचक्र कार्यरत है।

गीता में काल को कर्मफल के नियामक के रूप में भी देखा गया है। प्रत्येक कर्म अपने फल के साथ काल के प्रवाह में परिपक्व होता है। मनुष्य वर्तमान में कर्म करता है, किन्तु उसका फल कालानुसार प्राप्त होता है। इसीलिए गीता में निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

गीता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि भगवान् स्वयं काल के अधिष्ठाता होते हुए भी "कालातीत" हैं। वे कहते हैं—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।"

— श्रीमद्भगवद्गीता, ४/६

अर्थात् मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि काल जगत् का नियम है, किन्तु परमात्मा उस नियम से परे है।

शिव और काल : महाकाल की अवधारणा : भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में भगवान् शिव को "महाकाल" कहा गया है। "महाकाल" शब्द का अर्थ है— वह जो स्वयं काल का भी अतिक्रमण करता है। जहाँ सामान्य जीव काल के अधीन है, वहीं शिव काल के नियन्ता और संहारकर्ता माने गए हैं।

शिवपुराण में कहा गया है—

"कालकालः शिवः प्रोक्तः।"

— शिवपुराण, विद्येश्वरसंहिता, ६/१५

अर्थात् शिव "काल के भी काल" हैं।

यहाँ शिव का स्वरूप उस परम सत्ता का प्रतीक है जो जन्म, मृत्यु और परिवर्तन से परे है। इसीलिए शिव को "संहारकर्ता" कहा गया है, क्योंकि वे कालचक्र के अन्त में समस्त सृष्टि का लय करते हैं।

उज्जयिनी स्थित "महाकालेश्वर" ज्योतिर्लिङ्ग इसी अवधारणा का मूर्त प्रतीक है। स्कन्दपुराण में महाकाल क्षेत्र का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ शिव स्वयं कालरूप में स्थित होकर जीवों का संरक्षण करते हैं।

"अहं कालः समाख्यातः सर्वप्राणिविनाशकः।
महाकालमहं देवः कालचक्रप्रवर्तकः॥"

— स्कन्दपुराण, अवन्तीक्षेत्र माहात्म्य १/ २/५८

महाकाल की अवधारणा केवल भय या संहार की प्रतीक नहीं है, बल्कि वह "कालातीतता" का भी द्योतक है। साधक जब शिव की उपासना करता है, तब वह कालबद्ध संसार से ऊपर उठकर नित्य तत्त्व की ओर अग्रसर होता है। तन्त्र एवं आगम परम्परा में भी शिव को "महाकाल" तथा शक्ति को "महाकाली" कहा गया है। यहाँ काल सम्पूर्ण सृष्टि की गति का प्रतीक है और शिव उस गति के परम आधार हैं।

पुरुषोत्तम मास का साधना-पक्ष : पुरुषोत्तम मास का आध्यात्मिक महत्त्व केवल उसके खगोलीय स्वरूप में नहीं, बल्कि उसके साधना-पक्ष में निहित है। धर्मशास्त्रों ने इस मास को लौकिक उत्सवों की अपेक्षा आध्यात्मिक अनुशीलन का काल माना है। इसीलिए विवाह, यज्ञोपवीत आदि सकाम संस्कारों का निषेध तथा जप, तप, दान और उपवास का विशेष विधान किया गया।

पद्मपुराण में कहा गया है—

"सर्वमासेषु यत्पुण्यं सर्वतीर्थेषु यत्फलम्।
तत्फलं लभते जन्तुः पुरुषोत्तममासके॥"

— पद्मपुराण, पातालखण्ड, पुरुषोत्तम-मास-माहात्म्य

अर्थात् अन्य सभी मासों और तीर्थों में जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुरुषोत्तम मास में सहज प्राप्त हो जाता है।

इस मास में साधना के प्रमुख अंग निम्न माने गए हैं—

(क) जप एवं नामस्मरण : भगवन्नाम-स्मरण को इस मास का सर्वश्रेष्ठ साधन कहा गया है। विशेषतः—

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"

मन्त्र का जप अत्यन्त फलदायक माना गया है।

वैष्णव परम्परा में हरिनाम-संकीर्तन, गीता-पाठ तथा भागवत-पारायण का विशेष विधान है।

(ख) उपवास एवं संयम : उपवास का उद्देश्य केवल आहार-त्याग नहीं, बल्कि इन्द्रियनिग्रह और मनःशुद्धि है। अधिकमास में एकादशी-व्रत, ब्रह्मचर्य तथा सात्त्विक जीवन को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) दान एवं सेवा : पुराणों में दान को अन्तःकरण-शुद्धि का साधन माना गया है। पुरुषोत्तम मास में अन्नदान, दीपदान, गौदान तथा वस्त्रदान को विशेष पुण्यकारी कहा गया है।

(घ) स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन : यह मास मनुष्य को सांसारिक कोलाहल से हटाकर आत्मनिरीक्षण की ओर प्रेरित करता है। इसीलिए गीता, उपनिषद् तथा भागवत जैसे ग्रन्थों के अध्ययन का विशेष महत्त्व है।

इस प्रकार पुरुषोत्तम मास का वास्तविक स्वरूप बाह्य कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि अन्तर्मुख साधना है।

काल, कर्म एवं मोक्ष का सम्बन्ध : भारतीय दर्शन में काल, कर्म और मोक्ष—इन तीनों का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधा रहता है और यह समस्त प्रक्रिया काल के अधीन संचालित होती है। उपनिषदों में कहा गया है—

"यथाकर्म यथाश्रुतम्।"

— बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, मन्त्र ५
अर्थात् जीव अपने कर्मों के अनुसार गति प्राप्त करता है।

काल कर्मफल की परिपक्वता का माध्यम है। प्रत्येक कर्म तत्काल फल नहीं देता; वह कालानुसार परिपक्व होकर सुख या दुःख के रूप में प्रकट होता है। इसीलिए भारतीय दर्शन में "काल" को कर्मफल का नियामक माना गया है। योगवासिष्ठ में कहा गया है—

"कालः कर्मफलदाता।"

— योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण
अर्थात् काल ही कर्मों का फल प्रदान करता है।

किन्तु मोक्ष की अवस्था में जीव काल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वेदान्त के अनुसार जन्म और मृत्यु का चक्र ही कालबद्ध संसार है। जब आत्मा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेती है, तब वह कालातीत अवस्था को प्राप्त होती है।
कठोपनिषद् में नचिकेता और यमराज के संवाद में यह विचार प्राप्त होता है कि आत्मा न जन्म लेती है और न मरती है—

"न जायते म्रियते वा विपश्चित्।"

— कठोपनिषद्, अध्याय १, वल्ली २, मन्त्र १८
अर्थात् आत्मा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। इससे स्पष्ट है कि काल का प्रभाव शरीर पर है, आत्मा पर नहीं।
भारतीय अध्यात्म का परम लक्ष्य इसी कालबद्ध संसार से ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्त करना है। इस दृष्टि से अधिकमास जैसे साधना-प्रधान काल मनुष्य को आत्मशुद्धि एवं मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करते हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य कालगणना का तुलनात्मक अध्ययन : मानव सभ्यता के विकास में कालगणना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रत्येक संस्कृति ने अपनी आवश्यकताओं, खगोलीय निरीक्षणों तथा धार्मिक परम्पराओं के आधार पर काल-निर्धारण की पृथक् पद्धति विकसित की। पाश्चात्य जगत् में वर्तमान समय में ग्रेगोरियन कैलेंडर सर्वाधिक प्रचलित है, जबकि भारतीय परम्परा में पञ्चाङ्ग प्रणाली का विकास अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। भारतीय कालगणना केवल प्रशासनिक व्यवस्था नहीं, बल्कि खगोल, गणित, धर्म, ऋतु-विज्ञान तथा आध्यात्मिक जीवन का समन्वित तन्त्र है। इसी कारण भारतीय पञ्चाङ्ग और ग्रेगोरियन कैलेंडर के मध्य मौलिक भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

भारतीय एवं ग्रेगोरियन कालगणना का तुलनात्मक अध्ययन : ग्रेगोरियन कैलेंडर वर्तमान में विश्व की सर्वाधिक प्रचलित प्रशासनिक कालगणना प्रणाली है। इसका निर्माण पोप ग्रेगरी तेरहवें के आदेश से सन् १५८२ ई. में किया गया था। इसका मूल उद्देश्य जूलियन कैलेंडर की त्रुटियों का परिमार्जन करना था। यह पूर्णतः सौर-आधारित प्रणाली है।

इसके विपरीत भारतीय पञ्चाङ्ग चान्द्र-सौर पद्धति पर आधारित है। इसमें मासों का निर्धारण चन्द्रमा की तिथियों से तथा ऋतु एवं वर्ष का निर्धारण सूर्य की गति से किया जाता है। इस प्रकार भारतीय कालगणना में सूर्य और चन्द्रमा दोनों का समन्वय है।

तुलनात्मक सारणी

तुलना का आधार	**भारतीय कालगणना (पञ्चाङ्ग)**	**ग्रेगोरियन कालगणना**
मूल आधार	चान्द्र-सौर समन्वय	शुद्ध सौर प्रणाली
मास-निर्धारण	तिथि एवं चन्द्रगति पर आधारित	निश्चित दिनों का समूह
वर्षारम्भ	चैत्र शुक्ल प्रतिपदा	१ जनवरी
ऋतु-संबन्ध	ऋतुचक्र से सम्बद्ध	आंशिक सम्बन्ध

गणना-पद्धति	तिथि, नक्षत्र, योग, करण	केवल दिन एवं महीना
काल-विस्तार	परमाणु से कल्प तक	सेकण्ड से वर्ष तक

भारतीय पञ्चाङ्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी प्रत्येक तिथि का प्रत्यक्ष खगोलीय आधार होता है। उदाहरणतः "पूर्णिमा" उस स्थिति को व्यक्त करती है जब चन्द्रमा सूर्य से १८० अंश की दूरी पर होता है। इसके विपरीत ग्रेगोरियन कैलेंडर में तिथियों का खगोलीय स्थिति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता।

भारतीय कालगणना में दिन, तिथि, नक्षत्र तथा ऋतु—सभी प्रकृति से सम्बद्ध हैं। यही कारण है कि भारतीय पञ्चाङ्ग केवल समय मापन का उपकरण न होकर मानव और प्रकृति के मध्य समन्वय का माध्यम बन जाता है।

लीप वर्ष और अधिकमास की तुलना : ग्रेगोरियन कैलेंडर तथा भारतीय पञ्चाङ्ग—दोनों में समयगत त्रुटि के परिमार्जन हेतु विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं। ग्रेगोरियन प्रणाली में यह कार्य "लीप वर्ष" द्वारा तथा भारतीय प्रणाली में "अधिकमास" द्वारा किया जाता है।

(क) लीप वर्ष : आधुनिक सौर वर्ष लगभग ३६५ दिन और ६ घण्टे का होता है। यदि प्रत्येक वर्ष केवल ३६५ दिन ही माने जाएँ, तो प्रत्येक चार वर्षों में लगभग एक दिन की त्रुटि उत्पन्न हो जाएगी। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए प्रत्येक चौथे वर्ष फरवरी में एक अतिरिक्त दिन जोड़ा जाता है। इसे "लीप वर्ष" कहा जाता है।

किन्तु यह व्यवस्था केवल सौर वर्ष के सन्तुलन तक सीमित है। इसका चन्द्रमा या तिथियों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ख) अधिकमास : भारतीय कालगणना में समस्या अधिक जटिल थी, क्योंकि यहाँ चन्द्रमा और सूर्य दोनों का समन्वय आवश्यक था। चान्द्र वर्ष सौर वर्ष से लगभग ११ दिन छोटा होता है। यह अन्तर लगभग ३२ महीनों में एक पूर्ण मास के बराबर हो जाता है। इसीलिए भारतीय पञ्चाङ्ग में एक अतिरिक्त मास जोड़ा जाता है, जिसे "अधिकमास" कहते हैं।

इस प्रकार—

- लीप वर्ष केवल "दिन" जोड़ता है,
- जबकि अधिकमास "पूर्ण मास" जोड़कर ऋतु, तिथि और चन्द्र-सौर सम्बन्ध का समन्वय स्थापित करता है।

अतः अधिकमास की प्रणाली लीप वर्ष की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं वैज्ञानिक मानी जाती है।

आधुनिक पञ्चाङ्ग-निर्माण की पद्धतियाँ

वर्तमान समय में पञ्चाङ्ग-निर्माण की दो प्रमुख पद्धतियाँ प्रचलित हैं—

(क) दृक-सिद्ध पद्धति : यह पद्धति प्रत्यक्ष खगोलीय वेध तथा आधुनिक गणितीय गणनाओं पर आधारित है। इसमें ग्रहों की वास्तविक स्थिति को ध्यान में रखकर तिथियों और नक्षत्रों का निर्धारण किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसे अधिक शुद्ध माना जाता है।

(ख) सौर-सिद्ध पद्धति : यह पद्धति प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थों, विशेषतः सूर्यसिद्धान्त, पर आधारित है। इसमें पारम्परिक गणितीय सूत्रों के आधार पर ग्रहगतियों की गणना की जाती है।

यद्यपि दोनों पद्धतियों में सूक्ष्म अन्तर पाए जाते हैं, तथापि दोनों का आधार भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष ही है।

भारत सरकार द्वारा गठित "पञ्चाङ्ग संशोधक समिति" ने आधुनिक खगोलीय आँकड़ों के आधार पर पञ्चाङ्ग-निर्माण को अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी विक्रम संवत् तथा अन्य पारम्परिक पञ्चाङ्ग प्रचलित हैं। ये सामान्यतः "निरयन" गणना पर आधारित होते हैं।

दीपावली, होली, नवरात्र, जन्माष्टमी आदि सभी हिन्दू पर्व इन्हीं पारम्परिक पंचाङ्गों के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग प्रशासनिक उपयोगिता का साधन है, जबकि पारम्परिक पञ्चाङ्ग सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन का आधार बना हुआ है।

आधुनिक विद्वानों के मत : भारतीय कालगणना के पुनरावलोकन और पुनरुद्धार में आधुनिक विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

(क) लोकमान्य बालगंगाधर तिलक : लोकमान्य तिलक ने अपनी प्रसिद्ध कृति *The Orion* में ऋग्वेद के नक्षत्र-विवरणों के आधार पर भारतीय कालगणना की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास किया। उनके अनुसार भारतीय ज्योतिषीय परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और उसका विकास लगभग ४५०० ईसा पूर्व से भी पूर्व हो चुका था। तिलक ने नक्षत्र-आधारित कालगणना को भारतीय वैज्ञानिक चेतना का प्रमाण माना।

(ख) महामहोपाध्याय पी. वी. काणे : पी. वी. काणे ने अपनी महान कृति **धर्मशास्त्र का इतिहास** में अधिकमास, क्षयमास तथा पंचाङ्गीय व्यवस्थाओं का विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार—

भारतीय अधिकमास-व्यवस्था धर्म और खगोल के अद्भुत समन्वय का उदाहरण है।

काणे ने यह भी स्पष्ट किया कि भारतीय कालगणना केवल धार्मिक विश्वास नहीं, बल्कि दीर्घकालीन खगोलीय निरीक्षण पर आधारित वैज्ञानिक प्रणाली है।

आधुनिक विज्ञान और भारतीय कालगणना : आधुनिक खगोलभौतिकी और भारतीय कालदर्शन के मध्य अनेक रोचक साम्य दृष्टिगोचर होते हैं।

(क) चक्रीय काल-दृष्टि : आधुनिक विज्ञान अब ब्रह्माण्ड की चक्रीय संरचना पर विचार कर रहा है। भारतीय दर्शन में युग, मन्वन्तर और कल्प की अवधारणाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान हैं। यह चक्रीय दृष्टि भारतीय कालदर्शन की मौलिक विशेषता है।

(ख) गणनात्मक सटीकता : आधुनिक वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा निर्धारित चान्द्र मास और भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष के मानों में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। यह तथ्य भारतीय ज्योतिषाचार्यों की गणितीय सूक्ष्मता को प्रमाणित करता है।

(ग) जैविक एवं मानसिक प्रभाव : आधुनिक विज्ञान जैविक दिन-रात्रि चक्र तथा चन्द्रमा के मानसिक प्रभावों को स्वीकार कर रहा है। भारतीय परम्परा में एकादशी-व्रत, पूर्णिमा-स्नान तथा अमावस्या-व्रत जैसी व्यवस्थाएँ इसी प्राकृतिक प्रभाव के अनुरूप विकसित हुई थीं।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय पञ्चाङ्ग केवल धार्मिक विश्वास नहीं, बल्कि प्रकृति और मानव-जीवन के गहन अवलोकन पर आधारित प्रणाली है।

शोध- समाहार : प्रस्तुत शोध में भारतीय परम्परा में प्रतिपादित "काल" की अवधारणा तथा "अधिकमास" की व्यवस्था का वैदिक, ज्योतिषीय, धर्मशास्त्रीय, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों से समन्वित एवं समीक्षात्मक अध्ययन किया गया। इस समग्र अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट एवं प्रमाणित रूप से प्रतिपादित हुआ कि भारतीय कालगणना केवल समय-निर्धारण की एक व्यवहारिक प्रणाली नहीं है, अपितु यह प्रकृति, ब्रह्माण्ड, धर्म, मानव-जीवन तथा आध्यात्मिक चेतना के मध्य संतुलन स्थापित करने वाली एक परिपक्व एवं बहुआयामी ज्ञान-परम्परा है। भारतीय मनीषा ने काल को मात्र गणनात्मक इकाई न मानकर उसे सृष्टि-व्यवस्था, ऋतुचक्र, कर्मफल, आध्यात्मिक अनुशासन तथा ब्रह्माण्डीय समन्वय का मूलाधार स्वीकार किया है।

(क) वैदिक एवं ज्योतिषीय निष्कर्ष : शोध के प्रथम आयाम में यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि वैदिक साहित्य में "काल" की

अवधारणा अत्यन्त प्राचीन, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्वरूप में विद्यमान थी। ऋग्वेद के 'अस्यवामीय सूक्त', अथर्ववेद के 'कालसूक्त' तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में संवत्सर, ऋतु, नक्षत्र एवं त्रयोदश मास के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक ऋषियों को सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का सूक्ष्म एवं प्रेक्षणाधारित ज्ञान था।

वेदाङ्ग ज्योतिष ने इस वैदिक ज्ञान को व्यवस्थित गणितीय आधार प्रदान किया। पंचवर्षीय युग, तिथि-निर्णय, नक्षत्र-गणना तथा चान्द्र-सौर समन्वय की जो पद्धति वहाँ प्राप्त होती है, वह भारतीय ज्योतिषीय परम्परा की वैज्ञानिक परिपक्वता का प्रमाण है। विशेषतः 'अधिमास' की व्यवस्था यह दर्शाती है कि भारतीय कालगणना केवल धार्मिक परम्परा पर आधारित न होकर प्रत्यक्ष खगोलीय निरीक्षण एवं गणितीय तर्क पर प्रतिष्ठित थी।

(ख) गणितीय एवं वैज्ञानिक प्रामाणिकता : शोध के गणितीय एवं खगोलशास्त्रीय अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि अधिकमास की व्यवस्था किसी अन्धविश्वास, पौराणिक कल्पना अथवा रूढ़ परम्परा का परिणाम नहीं है, बल्कि सौर एवं चान्द्र वर्ष के मध्य उत्पन्न होने वाले लगभग १०.८७५ दिनों के वार्षिक अन्तर का वैज्ञानिक परिमार्जन है। यदि इस अन्तर का समय-समय पर समायोजन न किया जाए, तो ऋतुचक्र और मास-व्यवस्था के मध्य सामंजस्य भंग हो जाएगा।

भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने इस विसंगति का समाधान "अधिमास" के माध्यम से किया, जिससे चान्द्र मास पुनः सौर ऋतुचक्र के साथ संतुलित बने रहें। सूर्यसिद्धान्त, आर्यभटीय, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त तथा सिद्धान्तशिरोमणि जैसे ग्रन्थ यह प्रमाणित करते हैं कि भारतीय खगोलविदों को ग्रहगतियों, संक्रान्ति, चन्द्रगति तथा काल-परिमाण का अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान था।

यह भी स्पष्ट हुआ कि 'क्षयमास' जैसी दुर्लभ खगोलीय स्थितियों का वर्णन भारतीय ज्योतिष की प्रेक्षणात्मक सूक्ष्मता और वैज्ञानिक परिपक्वता का द्योतक है। इस दृष्टि से अधिकमास भारतीय गणित-ज्योतिष की एक विलक्षण उपलब्धि है।

(ग) धर्मशास्त्रीय एवं आध्यात्मिक रूपान्तरण : पुराणों एवं धर्मशास्त्रों के अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि भारतीय परम्परा ने अधिकमास को केवल एक खगोलीय घटना के रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसे गहन आध्यात्मिक एवं साधनामूलक अर्थ प्रदान किया। "मलमास" का "पुरुषोत्तम मास" में रूपान्तरण भारतीय संस्कृति की उस उदात्त दृष्टि का परिचायक है, जिसमें अतिरिक्त अथवा उपेक्षित प्रतीत होने वाले तत्त्व को भी ईश्वरीय गरिमा प्रदान की जाती है।

पुराणों ने इस मास को जप, तप, दान, स्वाध्याय, उपवास एवं आत्मशुद्धि का श्रेष्ठ काल माना, जबकि धर्मशास्त्रों ने सकाम एवं माङ्गलिक कर्मों का निषेध कर मनुष्य को बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से हटाकर अन्तर्मुख साधना की ओर उन्मुख किया। इस प्रकार अधिकमास का धार्मिक विधान वस्तुतः आध्यात्मिक अनुशासन एवं आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया है।

यह शोध यह भी प्रतिपादित करता है कि भारतीय धर्मदृष्टि में "काल" का प्रत्येक अंश आध्यात्मिक सम्भावना से युक्त है; अतः यहाँ कोई भी काल पूर्णतः अशुभ नहीं माना गया।

(घ) दार्शनिक गाम्भीर्य : दार्शनिक अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय कालदर्शन में "काल" केवल भौतिक समय का प्रवाह नहीं, बल्कि ईश्वरीय सत्ता, कर्मफल के विधान तथा सृष्टि-चक्र का नियामक तत्त्व है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् का "कालोऽस्मि" स्वरूप, शिव का "महाकाल" रूप तथा उपनिषदों की कालातीत आत्मा की अवधारणा यह सिद्ध करती है कि भारतीय चिन्तन में काल का स्वरूप गहन आध्यात्मिक एवं अस्तित्वगत है।

भारतीय दर्शन में काल एक ओर सृष्टि के परिवर्तनशील प्रवाह का प्रतीक है, तो दूसरी ओर मोक्ष उस कालबद्धता के अतिक्रमण की अवस्था है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में गणित, ज्योतिष, धर्म और अध्यात्म परस्पर

विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं।

(ङ) तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष : भारतीय पञ्चाङ्ग एवं ग्रेगोरियन कालगणना के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि भारतीय कालगणना प्रकृति एवं खगोलीय यथार्थ के अधिक समीप है। ग्रेगोरियन कैलेंडर जहाँ मुख्यतः प्रशासनिक सुविधा के लिए निर्मित एक शुद्ध सौर प्रणाली है, वहीं भारतीय पञ्चाङ्ग सूर्य और चन्द्रमा दोनों की गतियों के समन्वय पर आधारित एक वैज्ञानिक काल-पद्धति है।

भारतीय पञ्चाङ्ग की प्रत्येक तिथि, नक्षत्र, योग एवं करण का प्रत्यक्ष खगोलीय आधार है। अधिकमास की व्यवस्था केवल दिनों का गणितीय समायोजन नहीं करती, बल्कि ऋतु, मास एवं धार्मिक जीवन के पारस्परिक सामंजस्य को भी सुरक्षित रखती है।

आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित "जैविक दिन-रात्रि चक्र" तथा चन्द्रमा के मनो-जैविक प्रभावों की अवधारणाएँ भी भारतीय तिथि-व्यवस्था एवं व्रत-परम्परा की वैज्ञानिकता की अप्रत्यक्ष पुष्टि करती हैं।

(च) उपसंहार : सम्पूर्ण अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निर्विवाद रूप से स्थापित होता है कि भारतीय कालगणना, विशेषतः अधिकमास की व्यवस्था, विश्व की प्राचीनतम, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से सर्वाधिक परिपक्व काल-प्रणालियों में से एक है। यह केवल समय-मापन की तकनीक नहीं, बल्कि मानव, प्रकृति और ब्रह्माण्ड के मध्य सामंजस्य स्थापित करने वाला एक गहन सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विज्ञान है।

भारतीय ऋषियों ने खगोलीय निरीक्षण, गणितीय तर्क, धार्मिक अनुशासन तथा आध्यात्मिक साधना—इन सभी को एकीकृत कर जिस काल-दर्शन की रचना की, वह आज भी अपनी वैज्ञानिकता, व्यावहारिकता तथा दार्शनिक गाम्भीर्य के कारण पूर्णतः प्रासंगिक एवं अनुकरणीय है। अधिकमास की व्यवस्था इस तथ्य का सर्वोत्तम उदाहरण है कि भारतीय ज्ञानपरम्परा में विज्ञान और अध्यात्म परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक ही सत्य के विविध आयाम हैं।

अतः यह शोध इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतीय कालगणना प्रणाली केवल अतीत की सांस्कृतिक धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी एक वैज्ञानिक, पर्यावरण-संगत एवं आध्यात्मिक रूप से समृद्ध जीवन-दृष्टि प्रदान करने वाली सार्वकालिक ज्ञान-व्यवस्था है।

•